महर्षि अरविन्द के दार्शनिक विचार

डॉ० अवधेश कुमार श्रीवास्तव

प्राचार्य
रघुवीर महाविद्यालय,थालोई
जौनपुर

महर्षि अरविन्द आधुनिक भारत के ही नहीं अपितु विश्व के महानतम चिन्तकों में से एक हैं। वे एक साथ एक महान विचारक, प्रकाण्ड पण्डित कवि, स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी एवं महायोगी थे। रोमा रोलां ने अरविन्द को 'भारतीय दार्शनिकों का सम्राट' एवं 'एशिया तथा यूरोप की प्रतिभा का समन्वय' कहकर सम्बोधित किया है।

श्री अरविन्द जी को भगवान श्री कृष्ण ने उनके कारावास प्रवास के समय स्वयं प्रत्यक्ष दर्शन दिया था। भगवान ने उनके हाथ में 'गीता' रूपी दिव्य अस्त्र प्रदान करते हुए कहा था–

''भगवान् ने उन्हें यहाँ उनके हाथ में गीता का दिव्य अस्त्र पकड़ा कर कहा कि अब समय आ गया है, तुम्हें असली अर्थ को खोलकर मानव के समक्ष प्रकट करना है।''

अर्थात् अब तुम्हें भारत को ज्ञान, कर्म और भक्ति के पूर्ण समन्वय से उद्भूत एक अछूती एकता की ओर ले चलना है। वास्तव में भारत का रंगमंच बनाकर भगवान को संसार की चेतना को जो महारूपान्तर उपस्थित करना था, उसी के लिए श्री अरविन्द को माध्यम एवं निमित्त बनाया गया था।

श्री अरविन्द जी ईश्वरीय आदेश को अक्षरशः अनुपालन करते हुए गीता के कर्मयोग एवं ध्यान योग की वैज्ञानिक व्याख्या वर्तमान परिप्रेक्ष्य में की है। श्री अरविन्द की विचारधारा के अनुसार ***मानव एवं दिव्य शक्ति का सुखद संयोग ही योग है।*** दूसरे शब्दों में योग एक ऐसा दिव्य साधन हैं जिससे मानव दिव्य शक्ति की अनुभूति करता है। श्री अरविन्द मानव को योग द्वारा अनुभूति कर ब्रह्म में लीन होने का उपदेश नहीं देते थे, वे तो इसके द्वारा सम्पूर्ण मानव जाति को अज्ञान, अंधकार और मृत्यु से ज्ञान, प्रकाश और अमरत्व की ओर ले जाना चाहते हैं। इसी कारण श्री अरविन्द की इस विचारधारा को सर्वांग योग दर्शन कहा जाता है।

महर्षि अरविन्द के दार्शनिक विचार–

- **महर्षि अरविन्द के अनुसार तत्त्व मीमांसा–**

सृष्टि का सम्पूर्ण कर्ता ईश्वर ही है। अब स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है कि ईश्वर इस जगत् का निर्माण किस प्रकार करता है? इस प्रश्न का समाधान करने हेतु श्री अरविन्द ने

इसकी व्याख्या विकास के सिद्धान्त के आधार पर की है। श्री अरविन्द ने विकास की दो शाखाओं आरोहण एवं अवरोहण का जिक्र किया है।

श्री अरविन्द ने स्पष्ट किया है कि ब्रह्म अवरोहण प्रक्रिया में वस्तु (पदार्थ) अर्थात् जगत् का रूप धारण करता है। इस अवरोहण के सात सोपान बताये हैं– **द्रव्य–प्राण–मानस–अतिमानस–आनन्द–चित्–सत्।**

श्री अरविन्द जी ब्रह्म की सत् तथा ईश्वर को सत्, चित् और आनन्द के रूप में मान्यता देते हैं। श्री अरविन्द जी आत्मा को गीता के पुरुष रूप में स्वीकारा है। उनके विचार से आत्मा में परमात्मा के दो प्रमुख गुण विद्यमान हैं। प्रथम आनन्द और द्वितीय चित्। इस प्रकार आत्मा अनेकानेक योनियों में विचरण करते हुए मानव योनि में प्रविष्ट होती है तथा शरीर के माध्यम से सत् की ओर बढ़ती है। अन्त में सभी विचारों के अध्ययन के पश्चात् यही निष्कर्ष निकलता है कि मानव जी का अन्तिम उद्देश्य सत् चित् और आनन्द की प्राप्ति करके मोक्ष की प्राप्ति करना है। इस तरह श्री अरविन्द ने प्रमुख के आदेश को मानते हुए गीता के कर्म एवं ध्यान योग की वैज्ञानिक विवेचन की।

श्री अरविन्द कहते हैं कि आत्मा के जन्म लेने का अर्थ है उसका किसी ऐसी अवस्था से बाहर निकल आना जहाँ वह अस्तित्वहीन तो नहीं पर हमारी मर्त्य इन्द्रियों के लिए अप्रकट है और उसकी मृत्यु का अर्थ है उसी अप्रकट अवस्था में लौट जाना जहाँ से वह इस भौतिक अभिव्यक्ति में फिर प्रकट होगा। शरीर की मृत्यु पर शोक अथवा दुःख प्रकट करना अज्ञानता है। इस सृष्टि में सब कुछ आत्मा ही है वह 'एक' है, वही परमात्मा है। सम्पूर्ण जीवन उसकी छाया मात्र है। इस सत्य का साक्षात्कार करने वाला जीवन और मृत्यु के चक्र से ऊपर उठ जाता है।

श्री अरविन्द के दर्शन को हम अतिमानव का दर्शन कह सकते हैं, यों श्री अरविन्द ने अपने ग्रन्थों में अतिमानव या 'सुपरमैन' शब्द का प्रयोग बहुत ही कम किया है। श्री अरविन्द ने अतिमानव के स्थान पर अतिमानसिक मानव कहना अधिक उपयुक्त समझा। श्री अरविन्द के अनुसार– ''अतिमानसिक स्थिति प्राप्त करने पर ही मनुष्य अपने स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। वही उसका वास्तविक स्वरूप है।'' श्री अरविन्द कहते हैं कि मनुष्य अप्राकृत है, उसे अपना वास्तविक स्वरूप प्राप्त नहीं हुआ है, वह कल्पना कर सकता है कि वह वास्तविक है, अपने जैसे लोगों में वह प्राकृत जैसा लग भी सकता है।

'अतिमानव' शब्द को लोकप्रिय बनाने का श्रेय नीत्शे को जाता है। नीत्शे इस बात पर जोर देते हैं कि मनुष्य जाति का परम् लक्ष्य अतिमानव को जन्म देना है। श्री अरविन्द के दर्शन में अतिमानव या अतिमानसिक मानव नीत्शे के अतिमानव से पूर्णतया भिन्न है। वह दैवी गुणों से युक्त एक योगी हैं। वह पार्थिव भोग–विलास आदि से ऊपर उठकर अध्यात्म की साधना करता

है। अपनी साधनालब्ध उपलब्धियों को वह मानव मात्र के कल्याण के लिए उपयोग में लाता है। वह प्रज्ञान चेतना को प्राप्त कर सर्वभूतों से एकात्मता का बोध करता है। उसके लिए हिंसात्मक शासन का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि वह जीवमात्र को अपना ही स्वरूप समझता है और इसलिए सबके साथ प्रेम भाव से ओतप्रोत रहता है। संक्षेप में श्री अरविन्द का अतिमानव गीता में वर्णित दैवी सम्पदाओं का मूर्त विग्रह है।

श्री अरविन्द ने अकाट्य तर्कों से सिद्ध किया है कि विकासप्रक्रिया का अन्तिम परिणाम अतिमानस को प्राप्त करना है और अतिमानसिक स्थिति पर पहुँचने से सम्पूर्ण मानवजाति अतिमानसिक 'प्रज्ञान–पुरुषों' की जाति में रूपान्तरित हो जायेगी। अतिमानसिक मानव ही आज के मानव का परम लक्ष्य है।

श्री अरविन्द का अतिमानव एक आत्मचरितार्थ, आत्मतृप्त एवं आत्मस्थित पुरुष है। उसके लिए यह संसार आत्मा में आत्मा के लिए आत्मा की प्राप्ति है। अहंकार से वह सर्वथा मुक्त है। इसलिए उसका व्यक्तिगत संकल्प सामुदायिक संकल्प से कदापि भिन्न नहीं हो सकता। अन्य सभी आत्माओं के साथ पूर्ण संगति एवं सामंजस्य से वह कार्य करता है।

श्री अरविन्द अतिमानव सम्बन्धी अपनी धारणा को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं– ''दया एक दैवी गुण है, यह ऊपर से हमारे पास अवतरित होती है और जिस मनुष्य का स्वभाव दया से रहित है, अतिमानव या महामानव का भान करना उसके लिए धृष्टता है, क्योंकि केवल वही अतिमानव है जो ईश्वर के उच्चतम स्वरूप को मनुष्य जाति में अभिव्यक्त करता है।''

➢ **महर्षि अरविन्द के अनुसार ज्ञानात्मक मीमांसा–**

श्री अरविन्द के अनुसार भौतिक और आध्यात्मिक तत्त्वों के अभेद को जानना ही वास्तविक ज्ञान है। श्री अरविन्द ने प्रयोग की दृष्टि से ज्ञान को दो वर्गों में विभक्त किया है–

1. द्रव्य ज्ञान
2. आत्म ज्ञान

द्रव्य ज्ञान अर्थात् जगत् ज्ञान को श्री अरविन्द सामान्य ज्ञान मानते थे और आत्म ज्ञान को उच्च ज्ञान के रूप में स्वीकार करते हैं। श्री अरविन्द के विचार से वस्तु जगत् का ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों द्वारा और तत्व का ज्ञान अंतःकरण द्वारा किया जाता है। सच्च ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्री अरविन्द योग क्रिया के अन्तर्गत यम् नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारण और समाधि को अति आवश्यक माना है।

श्री अरविन्द कहते हैं कि ''समत्व ही मुमुक्षु का लक्षण और कसौटी है। जहाँ कहीं जीव में विषमता है वहाँ प्रकृति के गुणों की विषम क्रीडा प्रत्यक्ष है, वहाँ कामना का वेग है, व्यक्तिगत इच्छा भाव या कर्म का खेल हैं, सुख–दुःख की द्वन्द्वात्मक गति या वह उद्विग्न या उद्वेगजनक

आनन्द जो सच्चा आध्यात्मिक आनन्द नहीं बल्कि एक प्रकार की मानसिक तृप्ति है जिसके साथ अनिवार्य रूप से मानसिक अतृप्ति का प्रतिक्षेप या प्रतिरूप भी लगा रहता है। समत्व के द्वारा ही कर्मयोगी को कर्म करते समय भी यह ज्ञान रहता है कि वह मुक्त है।'' दिव्य शान्ति के तीन साधन या सोपान हैं– वीरोचित सहनशीलता, विवेकपूर्ण विरक्ति और धर्मनिष्ठा समर्पण या तितिक्षा। गीता अपने समन्वय की उदार प्रकृति में इन सभी का समावेश कर लेती है और अपनी आत्मा की ऊर्ध्व गति में उन्हें समन्वित कर लेती है। वह इन तीनों को बड़ी गहराई से जोड़ती है, प्रत्येक का लक्ष्य अधिक व्यापक बनाती है और प्रत्येक में सर्वव्यापक और सर्वातीत परम अर्थ भर देती है। इसका कारण यह है कि गीता इनमें से प्रत्येक को एक आध्यात्मिक मूल्य और आध्यात्मिक सत्ता की शक्ति देती है।

श्री अरविन्द कहते हैं कि मन जीवन के प्रतिकूल आघातों से कष्ट और अरूचि के कारण पीछे हटता है, यह आत्मरक्षा में प्रकृति की युक्ति है जिसे 'जुगुप्सा' कहते हैं। इसी कारण हमारे स्नायु और शरीर के अतिकोमल अंग सहसा अपने ध्वंस का आलिंगन करने के लिए दौड़ नहीं पड़ते। जीवन के अनुकूल स्पर्शों से मन को हर्ष होता है, यह राजस भोग प्रकृति का प्रलोभन है जिससे जीव की शक्ति, जड़ता और अकर्मण्यता की तामसी प्रवृत्तियों को जीत सके और वह कर्म, संघर्ष और सफलता के लिए पूर्ण रूप से लग जाए और मन को इनके साथ आसक्त करके प्रकृति अपना प्रयोजन सिद्ध कर सके। हमारी मूढ़ चेतना इस द्वन्द्व और संघर्ष में एक प्रकार का सुख अनुभव करती है। इस सुख से उसे विषाद और दुःख भी मिलता है। जो क्रिया हमें निम्न प्रकृति के विक्षोभों से बाहर निकाल सकेगी, वह अवश्य ही हमारे मन को समत्व की ओर गतिशील करेगी। जो लोग जरा और मरण से छुटकारा पाने के लिए तामसिक वैराग्य से ही आत्म–संयम करते हैं (जरामरणमोक्षमामश्रित्य यतन्ति ये) उनकी साधना को भी गीता स्वीकार करती है किन्तु इस साधना से यदि कोई लाभ होना है तो इसके साथ एक उच्चतर अवस्था की सात्विक अनुभूति भी होनी चाहिए और भगवान् में ही आनन्द और भगवान् का ही आश्रय लेना चाहिए।

जिसकी आत्मा समत्व को प्राप्त हो गयी है उसे दुःख सहना होता है, पर वह दुःख से घृणा नहीं करता, उसे सुख ग्रहण करना होता है पर वह सुख से हर्षित नहीं होता। शारीरिक यंत्रणाओं को भी सहिष्णुता के द्वारा जीतना होता है। जरा, मृत्यु, दुःख, यंत्रणा से भागने की जरूरत नहीं, प्रत्युत इन्हें स्वीकार करके उदासीनता से परास्त करना है।

विशुद्ध दार्शनिक, मनीषी या ज्ञानी पुरुष अपने सत्वगुण को आत्मवशित्व के साधन के रूप में प्रयुक्त करता है। वह स्थिर शान्त बुद्धि से सबकुछ देख लेता है और बिना किसी द्वेष या घबराहट के अपना मार्ग निश्चित कर लेता है। ''विषयेन्द्रिय संयोग से उत्पन्न होने वाले भोग

ही दुःख के कारण हैं, इनका आदि है अन्त नहीं, इसलिए ज्ञानी जाग्रत बुद्धिवाला पुरुष इनमें रमण नहीं करता।

जिसने अपनी निम्न प्रकृति को जीत लिया है वह अपने उच्चतर स्वभाव को अपने सर्वोत्तम सहयोगी के रूप में पाता है। वह ज्ञान से तृप्त हो जाता है, वह इन्द्रियों का स्वामी हो जाता हैं, सात्विक समत्व के द्वारा योगी हो जाता है, क्योंकि समत्व ही तो योग है– 'समत्वं योग उच्यते', उसकी दृष्टि में मिट्टी, सोना, पत्थर सब बराबर है, सरदी–गरमी में सुख– दुःख में, मान–अपमान में वह एक सा शांत और सम रहता है।

- **महर्षि अरविन्द के अनुसार मूल्य मीमांसा–**

श्री अरविन्द के अनुसार मनुष्य के जीवन का अन्तिम ध्येय सत्, चित् और आनन्द को प्राप्त करना है। सच्चिदानंद की प्राप्ति हेतु अरविन्द ने गीता के कर्मयोग और ध्यान योग को साधन माना है। गीता के कर्म योग और ध्यान योग के माध्यम से ही एक योगी अपने कर्म क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने में सफल होती है। एक कर्मयोगी एवं ध्यान योगी को स्वस्थ शरीर, स्वस्थ मन और विकास रहित तथा संयमी और क्रियाशील होना चाहिए। इसके लिए श्री अरविन्द ने पुनः योग क्रिया के महत्त्व को स्वीकार किया है। श्री अरविन्द के अनुसार ये सभी चीजें एक सफल मानव के आचरण के अंग होने चाहिए।

अरविन्द के अनुसार गीता निःस्वार्थ कर्त्तव्यपालन की शिक्षा नहीं देती बल्कि दिव्य जीवन जीने की शिक्षा देती है। प्रत्येक मनुष्य संघर्ष की अवस्था में कहीं न कहीं अपने आपको असहाय पाता है। ऐसी अवस्था में अन्तःकरण में स्थित भगवान् के आदेशों का पालन करने के लिए समस्त कर्त्तव्यों का परित्याग कर ममत्वरहित और निरहंकार आचरण करना ही श्रेष्ठ है। अरविन्द ने कर्म को अकर्म से श्रेष्ठ बतलाते हुए भी कर्मकर्तृत्त्व का निषेध नहीं किया, बल्कि भगवत्प्राप्ति के साधनों में इसे भी एक साधन के रूप में स्वीकार किया।

श्री अरविन्द का विचार है कि जीव का भगवान की ओर सर्वभाव से समर्पण ही मुख्यतया गीता के ज्ञान, कर्म और भक्ति के समन्वय का आधार है। भगवान् की झांकी पा लेने के बाद, भगवान का सान्निध्य पा लेने की इच्छा प्रबल हो जाती है। जो लोग महात्मा हैं, जो अपने आपको उस दैवी प्रकृति के प्रकाश और उदारता की ओर खोल देते हैं जिसे प्राप्त होना मनुष्य के सामर्थ्य के अन्दर है, वे ही उस मार्ग पर हैं जो आरम्भ में बहुत ही संकरा, पर अन्त में अत्यन्त विशाल होता हुआ मुक्ति और पूर्णता की ओर ले जाता है। मनुष्य के अन्दर जो देवत्व है उसकी वृद्धि होती जाती है, वैसे–वैसे आवरण हटता जाता है और जीव कर्म के उत्तरोत्तर महान् अभिप्राय को तथा जीवन के वास्तविक तथ्य को समझने लगता है। आँख खुल जाती है उस भगवान् की ओर, जो मनुष्य के अन्दर है, उन भगवान् की ओर जो जगत् के अन्दर है।

जो लोग ज्ञान पर ही अधिक जोर देकर चलते हैं वे भी अन्तरात्मा और प्रकृति में होने वाले भगवान् के दर्शन की निरन्तर बढ़ने वाली, अपने अन्दर लीन करने वाली और अपने रास्ते पर चलाने वाली शक्ति के सहारे उसी जगह पर पहुँच जाते हैं। उनका यज्ञ है– ज्ञान यज्ञ और ज्ञान के ही अनिवर्चनीय परम भाव और आनन्द से वे पुरूषोत्तम की भक्ति करने लगते हैं– ''ज्ञानयज्ञेन यजन्तो मामुपासते।'' यह वह ज्ञान है जो भक्ति से भरा हुआ है, क्योंकि यह अपने करणों में पूर्ण है, अपने लक्ष्य में पूर्ण है। यह ज्ञान अनायास ही एक भजन–पूजन, एक विशाल भाव–भक्ति एक महान आत्मदान, एक पूर्ण आत्मोत्सर्ग हो जाता है। कारण यह उस आत्मा का ज्ञान है, जो हमें अपना बना लेता है और जब हम उसके समीप पहुँचते हैं तो हमारे ऊपर अपने सत्स्वरूप के अनन्त आनन्द की निधियाँ बरसाता है।

कर्म का मार्ग भी आत्मनिवेदन रूपी उपासना और भक्ति में परिणत हो जाता है क्योंकि यह हमारे चित्त और उसकी सारी वृत्तियों और व्यापारों का उस एक श्री पुरुषोत्तम के चरणों में पूर्ण समर्पण होता है।

जीव जब अपने अहंकार और कर्मों को भगवान् को समर्पित कर देता है तब भगवान् स्वयं चले आते हैं और हमारा बोझ उठा लेते हैं। अज्ञानी को वे दिव्य ज्ञान का आलोक, दुर्बल को दिव्य संकल्प का बल, परमात्मा को दिव्य पवित्रता की मुक्तिदायिनी स्थिति, दुःखी को अनन्त आत्मसुख और आनन्द देते है।

<u>सन्दर्भ ग्रन्थ सूची</u>

- ओड, डॉ0 लक्ष्मीकान्त (2017), *शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि,* जयपुरः राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी।
- चौबे, डॉ0 सरयू प्रसाद, डॉ0 अखिलेश (2006), *आधुनिक शिक्षा के दार्शनिक और समाजशास्त्रीय सिद्धान्त,* इलाहाबादः शारदा पुस्तक भवन।
- पाण्डेय, प्रो0 राम शकल (1986), *शिक्षा की दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि,* आगराः विनोद पुस्तक मन्दिर।
- पचौरी, डॉ0 गिरीश (2008), *उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक,* इण्टरनेशनल पब्लिशिंग हाउस, मेरठ।
- मालवीय, डा0 राजीव (2006), *शिक्षा दर्शन एवं समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि,* इलाहाबादः शारदा पुस्तक भवन।
- मिश्र, रवीन्द्र (1992), *''महर्षि दयानन्द सरस्वती एवं प्लेटो के शैक्षिक दर्शन का समीक्षात्मक अध्ययन''* (एम0एड0), इलाहाबाद वि0वि0, इलाहाबाद।